NREGS: Revamp or R.I.P.?
नरेगाः पुनरुद्धार हो या खत्म हो ?

अभिरूप मुखोपाध्याय
Abhiroop Mukhopadhyay
December 29, 2014

क्या नरेगा पर संकट गहरा रहा है या यह मरणासन्न स्थिति में अंतिम साँसें गिन रहा है? वर्ष 2010-11 में इसका बजट 401बिलियन रुपये था, जो 2013-2014 में घटकर 330 बिलियन रुपये रह गया. हाल ही में कामगारों के लिए घोषित अधिक मज़दूरी के कारण नरेगा पर मामूली-सा असर पड़ा है. सरकारी अधिकारियों (और अनेक अर्थशास्त्रियों) को लगता है कि नरेगा में अब कामगारों की सामान्यतः रुचि नहीं रह गई है. 2004-05 से लेकर 2011-12 के बीच की अवधि में कृषि संबंधी वास्तविक मज़दूरी में हुई वृद्धि के साथ-साथ उत्पादित परिसंपत्तियों की गुणवत्ता और भ्रष्टाचार के सामने आये मामलों से उत्पन्न निराशा के कारण आम तौर पर यह माँग होने लगी है कि नरेगा के बजट को घटाया जाए. ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप में सवाल उठता हैः चूँकि नरेगा ने अपना मकसद पूरा कर लिया है इसलिए इसे खत्म कर दिया जाए या इसके स्तर को घटा दिया जाए या फिर इसका पुनरुद्धार किया जाए और अगर ऐसा है तो किन मुद्दों को हल करना ज़रूरी होगा?

नरेगा कामगारों की मज़दूरी का एक ऐसा सार्वजनिक कार्यक्रम है, जिसमें ग्रामीण भारत के हरेक परिवार को निर्धारित दर पर सौ दिनों के लिए किसी स्थानीय सार्वजनिक परियोजना में रोज़गार देने की गारंटी दी जाती है. माँग पर आधारित यह योजना इस दृष्टि से पिछली नीतिगत योजना से इस मायने में भिन्न है कि पिछली योजना में गरीब कामगारों को चिह्नित करने की अपेक्षा की जाती थी और इसी कारण उनके वर्गीकरण में गलती हो जाती थी और उन्हें इससे मिलने वाले लाभ से वंचित कर दिया जाता था. चूँकि नरेगा की योजना काम के "अधिकार" के आधार पर बनाई गई थी, इसलिए इसकी निधि में भारी वृद्धि की गई थी. इससे पहले संपूर्ण ग्रामीण रोज़गार योजना (SGRY) चलाई गई थी, जिसके लिए वर्ष 2004-05 में 45 बिलियन रुपये का बजटरी प्रावधान किया गया था, जबकि वर्ष 2006-07 में नरेगा का बजट 113 बिलियन रुपये था, जो केवल 200 ज़िलों के लिए था. निधि में इतनी भारी वृद्धि की "लागत" के पीछे की मंशा यही थी कि नरेगा चाँदी की एक ऐसी गोली है, जिससे बिना कौशल वाले गरीब कामगारों को रोज़गार मिलने के साथ-साथ स्थायी परिसंपत्तियों का निर्माण भी हो जाएगा.

यह विश्वास कुछ हद तक ठीक निकला. वर्ष 2010-11 तक इस कार्यक्रम के अंतर्गत 2.5 बिलियन व्यक्ति-कार्यदिन उत्पन्न हुए जो ग्रामीण भारत के सार्वजनिक रोज़गार के क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि का उदाहरण था. किंतु 2010-11के बाद के वित्तीय वर्षों में इसकी गति में परिवर्तन हुआ और वित्तपोषण और मज़दूरी के व्यक्ति-कार्यदिनों में कमी आई. कई पंडितों ने इससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकाला कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अब नरेगा की ज़रूरत नहीं रह गई है. गिरावट की यह प्रवृत्ति राजस्थान में काफ़ी अधिक दिखाई दी. पहले यही राज्य नरेगा के वित्तपोषण और उसके परिणामों में अग्रणी रहा था. राजस्थान में वर्ष 2009-10 में नरेगा का कुल व्यय 56.7 बिलियन रुपये था,जो वर्ष 2012-13 में घटकर 32.8 बिलियन रुपये रह गया था. राजस्थान के अनुमानित रोज़गार (नैशनल सैम्पल सर्वे ऑर्गेनाइज़ेशन द्वारा जुटाये गये आंकड़ों) के व्यक्ति-दिनों में भी गिरावट दिखाई पड़ी. वर्ष 2009-10 में नरेगा में 4.5 मिलियन व्यक्ति-दिनों का काम हुआ, जबकि वर्ष 2011-12 में यह घटकर केवल 0.7 मिलियन रह गया.

इस प्रवृत्ति के आधार पर राजस्थान के आँकड़ों को ध्यानपूर्वक देखने से कुछ सवालों के जवाब मिल जाते हैं. सन् 2013 में 8 ज़िलों के 328 गाँवों और 3,916 परिवारों का सर्वेक्षण किया गया जिससे यह पता चला कि 89 प्रतिशत सर्वेक्षित परिवारों ने नरेगा के काम में रुचि दिखाई, परंतु केवल 61 प्रतिशत कामगारों ने ही औपचारिक तौर पर नरेगा में काम की माँग की (हिमांशु, मुखोपाध्याय और शरण 2014). इतना ही नहीं, केवल 68 परिवारों ने ही पिछले वर्ष नरेगा में *कुछ* काम करने का दावा किया. 'फ़ोकस' ग्रुप द्वारा गाँव के स्तर पर लिये गये इंटरव्यू से भी ऐसी ही तस्वीर सामने आई.

नरेगा के काम का असली प्रेरक तत्व यही है कि इसमें माँग पर आधारित सार्वजनिक काम का प्रावधान है. सर्वेक्षण के दौरान और गहरी छान-बीन से पता चला कि जो परिवार नरेगा के काम में दिलचस्पी तो रखते थे, उनमें से 83 प्रतिशत परिवारों ने काम के लिए इसलिए अनुरोध नहीं किया क्योंकि वे सोचते थे कि "गाँवों को काम तभी मिलता है जब काम *उपलब्ध* होता है." क्या इसी को हम भूल से माँग की कमी समझ रहे हैं. क्या यही निधि के आबंटन का टॉप डाउन तंत्र है?
नरेगा और इससे पहले की योजनाओं में यही बड़ा फ़र्क था कि नरेगा के अंतर्गत आबंटन माँग के अनुरूप किया जाता है. पिछली योजनाओं का मूल आधार गरीबी की दर थी, वंचित समुदायों के अनुपात और कृषि उत्पादकता के आधार पर राज्यों और ज़िलों का आबंटन तय होता था. चूँकि नरेगा का निधि आबंटन माँग पर आधारित है और माँग की सूचना सिस्टम के ज़रिये निर्बाध रूप में भेजी जाती है ताकि निधि के आबंटन में कोई रुकावट न आए. परंतु सच तो यह है कि पूरी न हो पाने वाली माँग के भारी परिमाण को देखकर लगता है कि पिछले कुछ वर्षों में हम निधि आबंटन के पुराने मॉडल पर ही उतर आए हैं, जिसमें परिवारों और स्थानीय निकायों को उपर्युक्त पद्धति के अनुसार निधि आबंटित की जाती थी.

नरेगा का उद्देश्य था प्रशासनिक तंत्र के अलावा "पंचायती राज" का उपयोग करना, ताकि परिवारों के अनुरोध को पंजीकृत करके इन माँगों को ब्लॉक के स्तर पर एकत्र किया जा सके. उसके बाद इसे ज़िला और फिर राज्य सरकार और केंद्र सरकार को भिजवाया जाए. सैद्धांतिक तौर पर निधियाँ अपने-आप ही माँग के अनुरूप प्रवाहित होंगी और इससे काम की माँग भी पूरी हो जाएगी.

पंचायती राज एक ऐसी संस्था है जिसमें लोकतांत्रिक रूप में चुने हुए सदस्य होते हैं. इन सदस्यों की ग्राम पंचायत, ब्लॉक और ज़िला स्तर पर परिषदें गठित की जाती हैं. ब्लॉक और ज़िला स्तर पर होने वाले चुनावों से औपचारिक रूप में उनके पक्षपातपूर्ण संपर्क होंगे. ग्राम पंचायतों से अपेक्षा रहती है कि वे माँग के अनुरोधों को एकत्र करने में मदद करेंगी और परियोजनाओं के प्रस्ताव तैयार करके उन्हें ब्लॉक को भिजवा देंगी. पंचायत समिति से अपेक्षा की जाती है कि वह ब्लॉक प्रशासन (आम तौर पर ब्लॉक विकास अधिकारी) के साथ मिलकर ऐसी माँगों के आधार पर ब्लॉक की योजना तैयार करेगी. उसके बाद उन्हें ज़िले में भिजवा दिया जाएगा जहाँ ज़िला पंचायत, ज़िला कलैक्टर के साथ मिलकर ब्लॉक आबंटन के अनुमोदन के लिए तैयारी करती है.

इन निकायों के राजनैतिक स्वरूप को देखते हुए यह स्वाभाविक ही है कि निधि के आबंटन में कुछ राजनीति भी हो. राजस्थान के 2004 और 2010 के पंचायत समिति के चुनावों और 2009-10 और 2012-13 में ब्लॉक स्तर की निधि के आबंटन का अध्ययन करते हुए भानु गुप्ता और मैंने पाया कि अगर हम पिछले चुनाव में कम अंतर से लड़े गये ब्लॉक चुनावों की जाँच करें तो जहाँ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कम सीटें थीं, वहाँ बाद में ज़्यादा निधियाँ उन ब्लॉकों को आबंटित की गईं जिनकी पंचायत समितियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कम सीटें (सभी सीटों की एक चौथाई) थीं. यह तभी हुआ जब ब्लॉक का बजट अनुमोदन करने वाली ज़िला परिषद का एक सदस्य सांसद था और वह भी कांग्रेसी था. इससे पता चलता है कि नरेगा के निधि आबंटन तंत्र में किस प्रकार की विकृति हो सकती है, जबकि यह पूरी तरह से ब्लॉक के आर्थिक पक्ष पर ही केंद्रित रहनी चाहिए.

निधियों के अंतरण तंत्र में यदि पारदर्शिता नहीं होगी तो निधि आबंटन प्रक्रिया में ऊपर से अनुचित प्रभाव डाला जा सकता है. यह अनुचित प्रभाव ब्लॉक और ज़िला स्तर पर निर्धारित की जाने वाली परियोजनाओं की प्राथमिकता सूची के माध्यम से डाला जा सकता है. यह नरेगा की मूल भावना के ही विरुद्ध होगा क्योंकि नरेगा में तो सभी प्रस्तावित योजनाओं का वित्तपोषण ज़रूरी है ताकि सभी माँगकर्ताओं को रोज़गार दिया जा सके. अधिकारियों के विवेकाधिकार बढ़ाने का दूसरा उपाय था, श्रमिकों और सामग्री के खर्चों के बीच 70:30 के अनुपात का नियम. इसका अर्थ यह था कि हरेक परियोजना की विधीक्षा ज़रूरी बन गई और उसीसे आया विवेकाधिकार और प्रभाव.

राजस्थान का यह दृष्टांत इसे बिल्कुल स्पष्ट कर देता हैः नरेगा को बने रहना चाहिए, परंतु इसकी मूलभूत भावना (माँग पर आधारित काम) पर ही प्रहार हो रहा है जबकि एक समाधान तो यही है कि माँगों के पंजीकरण की प्रक्रिया को बेहतर किया जाए और कुछ अन्य बुनियादी सवालों पर भी गौर किया जाए. यदि संस्थाएँ कमज़ोर होंगी तो क्या यह संभव होगा कि माँग पर आधारित काम के प्रावधान को कुशल निधि आबंटन तंत्र से जोड़ा जा सकेगा? क्या पंचायती राज जैसी संस्था जिसके सदस्य पक्षपात करने की स्थिति में हों, पर निर्भर होकर कुशलता पूर्वक आबंटन का काम संपन्न किया जा सकता है? नरेगा का अनुभव यह दर्शाता है कि इसके कार्यान्वयन पर और विचार करने की ज़रूरत है. जब तक नीति-निर्माता उचित उत्तर नहीं देते, हम यही दोहराते रहेंगे कि "नरेगा मरणासन्न स्थिति में है!"

अभिरूप मुखोपाध्याय नई दिल्ली के भारतीय सांख्यिकी संस्थान में अर्थशास्त्र के सह-प्रोफ़ेसर हैं.

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार <malhotravk@gmail.com> / मोबाइल : 91+9910029919.